उजरती श्रम और पूँजी

विभिन्न क्षेत्रों से हमारे पास शिकायत आयी है कि हमने उन **आर्थिक सम्बन्धों** को पेश नहीं किया है, जो मौजूदा वर्ग-संघर्षों और राष्ट्रीय संघर्षों के भौतिक आधार हैं। इन सम्बन्धों का हमने जान-बूझकर केवल तभी ज़िक्र किया है, जब वे राजनीतिक संघर्षों में प्रत्यक्ष रूप से सामने आ गये हैं।

काँटे की बात यह कि हम वर्त्तमान इतिहास में वर्ग-संघर्ष का सिलसिला देखें और आनुभविक रूप से उस ऐतिहासिक सामग्री द्वारा, जो हमारे पास मौजूद है और जो हर रोज़ नयी-नयी पैदा हो रही है, सिद्ध करें कि फ़रवरी और मार्च में मज़दूर वर्ग की पराजय के साथ-साथ उसके विरोधी भी पराजित हो गये थे फ़्रांस में बुर्जुआ जनतन्त्रवादी और यूरोपीय महाद्वीप में बुर्जुआ और किसान वर्ग, जो हर जगह सामन्ती निरंकुशता के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे; कि फ़्रांस में "सच्चे जनतन्त्र" की जीत उन तमाम राष्ट्रों की हार भी थी, जिन्होंने फ़रवरी क्रान्ति से प्रभावित होकर वीरतापूर्ण स्वातन्त्र्य संग्राम छेड़ा था; और अन्ततः यह कि क्रान्तिकारी मज़दूरों की पराजय के साथ-साथ यूरोप फिर पलटा खाकर अपनी पुरानी ग़ुलामी, **ब्रिटिश-रूसी** ग़ुलामी की हालत में पहुँच गया। पेरिस में जून का संघर्ष, वियेना का पतन, नवम्बर, 1848 में बर्लिन में होनेवाला विचित्र दुखान्त-सुखान्त नाटक, पोलैण्ड, इटली और हंगरी की निराशापूर्ण सरगर्मियाँ, आयरलैण्ड को भूखा मारकर आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना यही वे मुख्य घटनाएँ हैं, जो यूरोप में पूँजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के बीच चलनेवाले वर्ग-संघर्ष को अभिव्यक्त करती हैं और जिनके ज़रिये हमने यह साबित किया था कि जब तक क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग की विजय नहीं होती, तब तक प्रत्येक क्रान्तिकारी उथल-पुथल, चाहे उसका लक्ष्य वर्ग-संघर्ष से कितना ही दूर क्यों न मालूम होता हो, सदा असफल रहेगी और जब तक सर्वहारा क्रान्ति और सामन्ती प्रतिक्रान्ति के बीच एक **विश्व-युद्ध** के रूप में टक्कर नहीं होती, तब तक प्रत्येक सामाजिक सुधार केवल एक कल्पना ही बनकर रहेगा। वास्तविकता और हमारी प्रस्तुति दोनों में **बेल्जियम** और **स्विट्ज़रलैण्ड** एक महान ऐतिहासिक झाँकी में व्यंग्यचित्र के समान, दुखान्त-सुखान्त चित्र की तरह दिखायी देते थे, जिनमें से एक बुर्जुआ राजतन्त्रीय आदर्श राज्य था और दूसरा बुर्जुआ आदर्श जनतन्त्र; और ये दोनों राज्य अपने को वर्ग-संघर्ष से उतना ही मुक्त समझते थे, जितना कि यूरोपीय क्रान्ति से।

हमारे पाठक यह देख चुके हैं कि 1848 में वर्ग-संघर्ष किन विराट राजनीतिक रूपों में विकसित हुआ था। अब समय आ गया है कि उन आर्थिक सम्बन्धों पर भी अधिक निकट से विचार किया जाये, जिन पर पूँजीपति वर्ग तथा उसके वर्गीय शासन का अस्तित्व और साथ ही मज़दूरों की गुलामी आधारित हैं।

हम तीन बड़े खण्डों में जो पेश करेंगे वह यह है : **1) उजरती श्रम का पूँजी से** सम्बन्ध, मज़दूर की गुलामी, पूँजीपति का प्रभुत्व; **2) मौजूदा व्यवस्था में मध्यम बुर्जुआ वर्गों और तथाकथित बर्गर श्रेणी का अवश्यम्भावी विनाश; 3) यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्गों का विश्व-बाज़ार के तानाशाह इंग्लैण्ड द्वारा वाणिज्यिक अधीनीकरण और शोषण।**

हम अपनी विवेचना को अधिक से अधिक सरल और सुबोध बनाने की कोशिश करेंगे और यह मानकर चलेंगे कि हमारे पाठकों को राजनीतिक अर्थशास्त्र का अत्यन्त प्रारम्भिक ज्ञान भी नहीं है। हम चाहते हैं कि मज़दूर हमारी बात को समझ सकें। इसके अलावा, वर्त्तमान व्यवस्था के जाने-माने वकीलों से लेकर **समाजवादी बाज़ीगरों** और **अनचीन्हे राजनीतिक महापण्डितों** तक में, जिनकी संख्या खण्डित जर्मनी में सार्वभौम राजाओं से कहीं अधिक है, सरल से सरल आर्थिक सम्बन्धों के बारे में भी हद दर्ज़े का अज्ञान और भ्रान्त धारणाएँ पायी जाती हैं।

अच्छा अब हम पहला सवाल लें :

मज़दूरी क्या है?
वह कैसे निश्चित होती है?

यदि मज़दूरों से पूछा जाये : "तुम्हें कितनी मज़दूरी मिलती है?" तो एक जवाब देगा : "मुझे मेरा मालिक एक मार्क रोज़ देता है"; दूसरा कहेगा : "मुझे दो मार्क मिलते हैं"; और बाक़ी मज़दूर भी इसी तरह से जवाब देंगे। वे अपने अलग-अलग धन्धों के अनुसार अलग-अलग रक़में बतायेंगे, जो उन्हें अपने मालिकों से किसी ख़ास तरह का काम पूरा करने के लिए, मिसाल के लिए, एक गज़ कपड़ा बुनने या एक पेज मैटर कम्पोज़ करने के लिए मिलती हैं। वे भाँति-भाँति के उत्तर देंगे, लेकिन वे सब एक बात पर सहमत होंगे : वह यह कि मज़दूरी वह रक़म है, जो पूँजीपति किसी ख़ास वक़्त तक श्रम करने या श्रम द्वारा उत्पादन की विशेष मात्रा के लिए देता है।

अतएव, ऐसा लगता है कि पूँजीपति पैसा देकर मज़दूरों का श्रम **ख़रीदता** है। मज़दूर पैसे के एवज़ में उसके हाथ अपना श्रम **बेचते** हैं। लेकिन ऐसा सिर्फ़ ऊपर से दिखायी देता है। असल में मज़दूर पैसे के एवज़ में पूँजीपति के हाथों जो चीज़ बेचते हैं, वह उनकी **श्रम-शक्ति** होती है। पूँजीपति इस श्रम-शक्ति को एक दिन के

लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए ख़रीद लेता है और ख़रीदने के बाद वह मज़दूरों से निश्चित समय तक काम कराकर उसका इस्तेमाल करता है। जिस रक़म से पूँजीपति ने मज़दूरों की श्रम-शक्ति ख़रीदी है, जैसे दो मार्क, उससे वह सेरभर चीनी या एक निश्चित मात्रा में कोई भी और चीज़ ख़रीद सकता था। जिन दो मार्कों से वह सेरभर चीनी ख़रीदता है, वे सेरभर चीनी का **दाम** है। जिन दो मार्कों से उसने बारह घण्टे तक श्रम-शक्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार ख़रीदा है, वे बारह घण्टे के श्रम का दाम हैं। इसलिए जिस तरह चीनी बाज़ार में बिकनेवाला माल है, ठीक उसी तरह श्रम-शक्ति भी है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि चीनी तराज़ू में तौली है और श्रम-शक्ति का हिसाब घड़ी से रखा जाता है।

मज़दूर अपने माल को, यानी अपनी श्रम-शक्ति को, पूँजीपति के माल से, यानी पैसे से, बदल लेते हैं और यह विनिमय एक निश्चित अनुपात में होता है। इतनी देर तक श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए इतना पैसा। जैसे बारह घण्टे तक बुनाई करने के लिए दो मार्क। और ये दो मार्क क्या उन तमाम मालों के द्योतक नहीं हैं, जिनको मैं दो मार्क देकर ख़रीद सकता हूँ? इसलिए, असल में मज़दूर ने अपने माल का, यानी अपनी श्रम-शक्ति का, सभी प्रकार के अन्य मालों से विनिमय कर लिया है, और यह उसने एक निश्चित अनुपात में किया है। पूँजीपति ने दो मार्क देकर वास्तव में उसकी एक दिन की मेहनत के बदले में उसे इतना गोश्त, इतना कपड़ा, इतना ईंधन, इतनी रोशनी, आदि दी है। चुनाँचे, दो मार्क से वह अनुपात प्रकट होता है, जिसमें श्रम-शक्ति का दूसरे मालों से विनिमय होता है, अर्थात मज़दूर की श्रम-शक्ति का **विनिमय मूल्य।** जब किसी माल के विनिमय मूल्य का **मुद्रा** के रूप में हिसाब लगाया जाता है, तब वह उसका **दाम** कहलाता है। **मज़दूरी** श्रम-शक्ति के दाम का ही एक विशेष नाम है, जिसे आम तौर पर **श्रम का दाम** कहा जाता है। मज़दूरी उस अजीब माल के दाम का एक विशेष नाम है, जिसकी स्थिति मनुष्य के हाड़-मांस में है।

किसी भी मज़दूर को ले लीजिये। मान लीजिये कि वह बुनकर है। पूँजीपति उसे करघा और सूत देता है। बुनकर काम करना शुरू कर देता है और सूत कपड़े में बदल जाता है। पूँजीपति कपड़ा ले लेता है और मान लीजिये कि उसे बीस मार्क में बेच देता है। अब क्या बुनकर को मिलने वाली मज़दूरी उसके बनाये हुए कपड़े में, इन बीस मार्कों में, उसके श्रम की उपज में एक **हिस्से** के रूप में शामिल है? क़तई नहीं। बुनकर को उसकी मज़दूरी कपड़ा बिकने के बहुत पहले, और शायद उसकी बुनाई ख़तम होने के भी बहुत पहले मिल चुकी है। इसलिए पूँजीपति उस पैसे में से मज़दूरी नहीं देता, जो उसे कपड़ा बेचकर मिलेगा, बल्कि उस पैसे में से देता है, जो पहले से उसके पास मौजूद है। जिस प्रकार बुनकर उस करघे का और उस सूत का

उत्पादन नहीं करता, जो उसे मालिक से हासिल होते हैं, उसी प्रकार वह उन मालों का भी उत्पादन नहीं करता, जो उसके माल के बदले में, यानी उसकी श्रम-शक्ति के बदले में उसे मिलते हैं। मुमकिन है कि उसके मालिक को अपने कपड़े के लिए एक भी ख़रीदार न मिले। मुमकिन है कि कपड़े की बिक्री से मज़दूरी की रक़म भी न निकले। यह भी मुमकिन है कि बुनकर की मज़दूरी के मुक़ाबले में मालिक उसे बड़े अच्छे मुनाफ़े पर बेच ले। इस सब से बुनकर को कुछ नहीं लेना-देना है। उसकी श्रम-शक्ति को पूँजीपति ने अपनी पहले से जमा की हुई दौलत के, अपनी पूँजी के एक भाग से ख़रीदा है, ठीक उसी तरह, जिस तरह उसने अपनी दौलत के एक दूसरे भाग से कच्चा माल सूत और श्रम का औज़ार करघा ख़रीदा है। इन चीज़ों को ख़रीदने के बाद और इन चीज़ों में कपड़े के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-शक्ति भी शामिल है वह **उस कच्चे माल से तथा श्रम के उन औज़ारों से** कपड़ा तैयार कराता है, जो **उसकी अपनी सम्पत्ति है।** इन औज़ारों में अब हमारे भले बुनकर की भी गिनती है और तैयार होनेवाले माल में या उसके दाम में जैसे करघे का कोई हिस्सा नहीं होता वैसे ही बुनकर का भी कोई हिस्सा नहीं है।

अतएव, मज़दूरी मज़दूर द्वारा उत्पादित माल में मज़दूर का हिस्सा नहीं है। मज़दूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है, जिसके द्वारा पूँजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति ख़रीदता है।

अतएव, श्रम-शक्ति एक ऐसा माल है, जिसे उसका मालिक, यानी मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर, पूँजी के हाथ बेच देता है। वह उसे क्यों बेच देता है? ताकि वह ज़िन्दा रह सके।

लेकिन श्रम-शक्ति का प्रयोग, मेहनत करना, मज़दूर की अपनी जीवन-क्रिया है; वह उसके जीवन की अभिव्यक्ति है। और अपनी इस **जीवन-क्रिया** को वह आवश्यक **जीवन-निर्वाह के साधनों** को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे आदमी के हाथ बेच देता है। इस प्रकार उसकी जीवन-क्रिया उसके लिए ज़िन्दा रह सकने का साधन मात्र है। वह इसलिए काम करता है कि ज़िन्दा रह सके। यहाँ तक कि उसकी दृष्टि में श्रम जीवन का एक अंग नहीं है; बल्कि वह एक तरह से जीवन का बलिदान है। वह एक माल है, जिसे उसने एक दूसरे आदमी के हवाले कर दिया है। और इसीलिए उसके क्रियाकलाप का फल उसके क्रियाकलाप का लक्ष्य नहीं है। वह अपने लिए जो चीज़ पैदा करता है, वह रेशम नहीं है, जिसे उसने बुना है, वह सोना नहीं है, जिसे उसने खान से खोदकर निकाला है और न ही वह महल है, जिसे उसने बनाकर खड़ा किया है। अपने लिए तो वह केवल **मज़दूरी** पैदा करता है और रेशम, सोना या महल, सब के सब, जहाँ तक मज़दूर का सम्बन्ध है, जीवन-निर्वाह के साधनों के एक निश्चित परिमाण में बदल जाते हैं और शायद एक सूती बण्डी, कुछ ताँबे के सिक्कों और रहने की एक अँधेरी कोठरी की शक्ल अख़्तियार कर लेते

हैं। और वह मज़दूर, जिसने बाहर घण्टे तक बुना है, काता है, बरमाई की है, लेथ चलायी है, मकान बनाया है, फावड़ा चलाया है, पत्थर तोड़े हैं, बोझा उठाया है, आदि, आदि क्या वह इस काम को, बारह घण्टे तक इस तरह बुनने, कातने, बरमाई करने, लेथ चलाने, मकान बनाने, फावड़ा चलाने, पत्थर तोड़ने, बोझा उठाने, आदि को अपने जीवन की अभिव्यक्ति, अपना जीवन मानता है? नहीं। इसके विपरीत, उसके लिए जीवन तब शुरू होता है, जब यह क्रियाकलाप बन्द हो जाता है। उसके लिए जीवन खाने की मेज़ पर, शराबख़ाने में या बिस्तर पर शुरू होता है। उसकी बारह घण्टे की मेहनत का उसके लिए बुनने, कातने, बरमाई करने, आदि के रूप में कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए उसकी मेहनत का अर्थ केवल **जीविका** कमाने के रूप में है, जिसकी बदौलत खाने की मेज़, शराबख़ाना या बिस्तर उसके लिए **मयस्सर** हैं। यदि रेशम के कीड़े को कीड़े के रूप में ज़िन्दा रहने के लिए रेशम कातना होता, तो वह एक पक्का उजरती मज़दूर होता। श्रम-शक्ति हमेशा **माल** नहीं थी। श्रम हमेशा उजरती श्रम, अर्थात **स्वतन्त्र श्रम** नहीं था। जिस तरह बैल किसान के हाथ अपनी सेवाएँ नहीं बेचता, उसी तरह **ग़ुलाम** भी अपनी श्रम-शक्ति मालिक के हाथ नहीं बेचता है। ग़ुलाम अपनी श्रम-शक्ति सहित हमेशा के लिए अपने मालिक के हाथ बिक जाता है। ग़ुलाम एक ऐसा माल है, जो एक मालिक के हाथ से निकलकर दूसरे मालिक के हाथ में जा सकता है। ग़ुलाम **ख़ुद** बिकाऊ माल है, लेकिन उसकी श्रम-शक्ति **उसका** माल नहीं है। **भू-दास** अपनी श्रम-शक्ति का केवल एक भाग बेचता है। उसे ज़मीन के मालिक से मज़दूरी नहीं मिलती, बल्कि ज़मीन का मालिक ही उससे ख़िराज पाता है।

भू-दास भूमि से बँधा है और भूमि से जो कुछ पैदा होता है, वह भूमि के मालिक को नज़र कर देता है। दूसरी ओर, **स्वतन्त्र मज़दूर** ख़ुद अपने को बेचता है, बल्कि सच तो यह है कि वह अपने को थोड़ा-थोड़ा करके बेचता है। अपने जीवन के आठ, दस, बारह, पन्द्रह घण्टे वह रोज़ सबसे ज़्यादा दाम देनेवाले के हाथ, कच्चे मालों, श्रम के औज़ारों तथा जीवन-निर्वाह के साधनों के स्वामी, यानी पूँजीपति के हाथ नीलाम करता है। मज़दूर न तो मालिक की सम्पत्ति होता है और न ही ज़मीन से बँधा होता है। लेकिन उसके दैनिक जीवन के आठ, दस, बारह या पन्द्रह घण्टे उस व्यक्ति की सम्पत्ति होते हैं, जो इन्हें ख़रीद लेता है। मज़दूर जिस पूँजीपति के हाथ अपने को उजरत पर उठा देता है, उसे वह जब चाहता है छोड़कर चल देता है; और पूँजीपति भी जब उपयुक्त समझता है, जब यह देखता है कि मज़दूर से उसे कोई मुनाफ़ा नहीं हो रहा है, या उतना मुनाफ़ा नहीं हो रहा है, जितने की उसने आशा की थी, तब उसे जवाब दे देता है। लेकिन मज़दूर, जिसका अपनी जीविका कमाने का एकमात्र साधन अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री है, श्रम-शक्ति के **ख़रीदारों के पूरे वर्ग को, यानी पूँजीपति वर्ग** को तभी छोड़ सकता है, जब वह अपने अस्तित्व से

हाथ धो ले। मज़दूर इस या उस पूँजीपति की नहीं, बल्कि **पूँजीपति वर्ग** की सम्पत्ति होता है, और फिर यह उसका धन्धा ही है कि वह अपने को बेचे, यानी इस पूँजीपति वर्ग के अन्दर अपने लिए कोई ख़रीदार तलाश करे।

अब, पूँजी तथा उजरती श्रम के सम्बन्ध की और गहराई से जाँच करने के पहले हम उन अत्यन्त सामान्य प्रकार के सम्बन्धों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे, जिनका मज़दूरी निर्धारित करने में हिसाब किया जाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, **मज़दूरी** एक ख़ास तरह के माल का श्रम-शक्ति का **दाम** है। इसलिए मज़दूरी भी उन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित होती है, जिनके द्वारा अन्य सभी मालों के दाम निर्धारित होते हैं।

अतएव, प्रश्न यह है कि **किसी माल का दाम कैसे निर्धारित होता है?**

किसी माल का दाम किस चीज़ से निर्धारित होता है?

ख़रीदारों और बेचनेवालों की होड़ से, माल की माँग और उसकी सुपुर्दगी के सम्बन्ध से, माँग और पूर्ति के सम्बन्ध से। होड़ के, जिससे माल का दाम निर्धारित होता है, **तीन पहलू** होते हैं।

एक ही तरह का माल बहुत-से लोग बेचना चाहते हैं। यदि सब का माल गुण में एक-सा है, तो जो अपना माल सबसे सस्ता बेचेगा, वह निश्चय ही बाक़ी सब को मैदान से भगा देगा और उसी का माल सबसे ज़्यादा बिकेगा। इस प्रकार, बेचनेवालों में माल बेचने के लिए, बाज़ार में अपना सिक्का ज़माने के लिए आपस में होड़ होती है। उनमें से हर एक बेचना चाहता है, ज़्यादा से ज़्यादा बेचना चाहता है और कोशिश करता है कि यदि मुमकिन हो तो वही अकेला बेचे और दूसरा कोई न बेच पाये। इसलिए हर आदमी एक दूसरे से सस्ता बेचने की कोशिश करता है। परिणामस्वरूप, **बेचनेवालों में होड़** होती है, जिससे उनके मालों के दामों में **गिरावट** आ जाती है।

लेकिन **होड़ ख़रीदारों के बीच** भी होती है, जिसका यह नतीजा होता है कि मालों के दाम **बढ़ जाते हैं**।

तीसरे, **ख़रीदारों और बेचनेवालों के बीच होड़** होती है। ख़रीदार सस्ते से सस्ता ख़रीदना चाहते हैं और बेचनेवाले महँगे से महँगा बेचना चाहते है। ख़रीदनेवालों और बेचनेवालों के बीच चलनेवाली इस होड़ का परिणाम इस बात पर निर्भर होगा कि होड़ के उपर्युक्त दोनों पक्षों के बीच क्या सम्बन्ध है, यानी वह इस बात पर निर्भर होगा कि ख़रीदारों की फ़ौज के अन्दर ज़्यादा होड़ है या बेचनेवालों की फ़ौज के अन्दर। उद्योग दो फ़ौजों को मैदान में एक दूसरे के ख़िलाफ़ उतारता है और उनमें से हर फ़ौज की पाँतों के अन्दर, उसके अपने सिपाहियों के बीच लड़ाई भी चलती

रहती है। जिस फ़ौज के सिपाही आपस में सबसे कम मार-पीट करते हैं, वही अपने मुक़ाबले की फ़ौज के ऊपर फ़तहयाब होती है।

मान लीजिये, बाज़ार में रूई की 100 गाँठें आयी हैं, जबकि वहाँ 1,000 गाँठों के ख़रीदार मौजूद हैं। इस सूरत में पूर्ति से माँग दस गुना ज़्यादा है। नतीजतन ख़रीदारों में ज़बरदस्त होड़ होगी। हरेक ख़रीदार कम से कम एक गाँठ, और हो सके तो सौ की सौ गाँठें, हथियाना चाहता है। यह उदाहरण मनगढ़न्त कल्पना नहीं है। रूई के व्यापार के इतिहास में हमें कई ऐसे मौक़ों का अनुभव हो चुका है, जबकि कपास की फ़सल मारी गयी थी और जब चन्द पूँजीपतियों ने आपस में साँठगाँठ करके सौ गाँठों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया में रूई के सारे स्टॉक पर क़ब्ज़ा कर लेने की कोशिश की थी। अस्तु, उपरोक्त उदाहरण में एक ख़रीदार दूसरे को मैदान से भगा देने की कोशिश में प्रति गाँठ अपेक्षाकृत अधिक दाम देने को कहेगा। रूई बेचनेवाले देखेंगे कि शत्रु की सेना के सिपाही आपस में ज़ोरों से लड़ रहे हैं और उनकी सौ की सौ गाँठों का बिक जाना बिल्कुल निश्चित है। तब वे इस बात की पूरी सावधानी बरतेंगे कि कहीं उनमें आपस में ठन न जाये और ठीक ऐसे समय में, जबकि उनके विरोधी रूई का दाम बढ़ाने के लिए होड़ मचाये हुए हैं, उनकी फूट रूई के दाम को नीचे न गिरा दे। इसलिए देखते-देखते बेचनेवालों की फ़ौज में शान्ति विराजमान हो जाती है। वे **एकजुट** होकर ख़रीदारों का सामना करते हैं और दार्शनिक भाव से हाथ पर हाथ बाँध निश्चिन्त बैठे रहते हैं और यदि बात ऐसी न होती कि ज़्यादा से ज़्यादा आग्रही और उतावले ख़रीदार भी एक निश्चित हद के अन्दर ही दाम लगा सकते हैं, तो उनकी माँगों की कोई सीमा न रह जाती।

अत:, यदि किसी माल की पूर्ति उसकी माँग से कम है, तो बेचनेवालों के बीच बहुत कम होड़ होगी, या बिल्कुल न होगी। जिस अनुपात में यह होड़ कम होती है, उसी अनुपात में ख़रीदारों के बीच होड़ बढ़ जाती है। नतीजा यह होता है कि माल के दाम कमोबेश बढ़ जाते हैं।

लेकिन सभी जानते हैं कि इसका उल्टा, जिसका परिणाम भी उल्टा होता है, ज़्यादा देखने में आता है। अक्सर माँग से पूर्ति काफ़ी ज़्यादा होती है, बेचनेवालों के बीच बेतहाशा होड़ होती है, ख़रीदार मिलते नहीं और माल बेतरह सस्ते दामों पर उठ जाता है।

लेकिन दामों के घटने और बढ़ने का क्या मतलब है? ऊँचे दामों और नीचे दामों का क्या मतलब है? ख़ुर्दबीन से देखिये, तो रेत का कण भी ऊँचा दिखायी देता है और पहाड़ से मुक़ाबला कीजिये, तो मीनार भी नीची मालूम होती है। और यदि दाम माँग और पूर्ति के सम्बन्ध से निर्धारित होता है, तो माँग और पूर्ति के इस सम्बन्ध को कौन-सी चीज़ निर्धारित करती है?

राह चलते जिस पहले पूँजीपति से भेंट हो जाये, उसी से पूछिये। वह दिमाग़ पर

ज़रा-सा ज़ोर डाले बिना सिकन्दर महान की तरह इस दार्शनिक गुत्थी* को बात की बात में गुणनसारणी द्वारा सुलझा देगा। वह आपसे कहेगा : मैं जिस माल को बेचता हूँ, यदि उसके उत्पादन में 100 मार्क ख़र्च हुए हैं और यदि इस माल की बिक्री से मुझे 110 मार्क मिल जाते हैं बेशक साल भर के अन्दर ऐसा होना चाहिए तो वह एक बिल्कुल सही, न्यायोचित और ईमानदारी का मुनाफ़ा होगा। लेकिन यदि मुझे विनिमय में 120 या 130 मार्क मिल जाते हैं, तो वह ऊँचा मुनाफ़ा होगा; और यदि 200 मार्क मिल जायें, तो वह बहुत ही असाधारण और बहुत ही ऊँचा मुनाफ़ा समझा जायेगा। अतएव, प्रश्न यह उठता है कि पूँजीपति अपना मुनाफ़ा **किस चीज़ से नापता है?** अपने माल के **उत्पादन-व्यय** से। यदि उसे इस माल के बदले में दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है, जिसके उत्पादन में कम ख़र्च लगा है, तो उसे नुक़सान होता है। यदि अपने माल के बदले में उसे दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है, जिसके उत्पादन में ज़्यादा ख़र्च हुआ है, तो उसे मुनाफ़ा होता है। वह अपने मुनाफ़े के घटने या बढ़ने का हिसाब इस आधार पर लगाता है कि उसके माल का विनिमय-मूल्य इस बिन्दु **उत्पादन-व्यय** से कितना कम या ज़्यादा है।

हम यह देख चुके हैं कि पूर्ति और माँग के बदलते हुए सम्बन्ध के कारण किस तरह दाम कभी बढ़ जाते हैं, तो कभी घट जाते हैं, कभी दाम ऊँचे हो जाते हैं, तो कभी नीचे गिर जाते हैं। यदि पूर्ति के अपर्याप्त होने या माँग के बेअन्दाज़ ज़्यादा बढ़ जाने के कारण किसी माल का दाम बहुत बढ़ जाता है, तो अनिवार्यत: किसी और माल का दाम उसी अनुपात में गिर जायेगा, क्योंकि किसी भी माल का दाम, मुद्रा के रूप में उस अनुपात का द्योतक है, जिसमें उसके विनिमय में अन्य माल मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक गज़ रेशमी कपड़े का दाम पाँच मार्क से बढ़कर छह मार्क हो जाता है, तो इसका मतलब यह है कि रेशमी कपड़े के मुक़ाबले में चाँदी का दाम गिर गया है; और इसी तरह दूसरे वे तमाम माल भी, जिनके दाम पुराने स्तर पर क़ायम हैं, रेशम के मुक़ाबले में सस्ते हो गये हैं। अब पहले जितना रेशमी कपड़ा लेने के लिए उसके बदले में इन मालों की अधिक मात्रा देनी होगी। किसी माल के दाम में तेज़ी आने का क्या नतीजा होगा? उद्योग की इस फलती-फूलती शाखा में बहुत-सी पूँजी चली आयेगी और इस शाखा में पूँजी की बाढ़ उस समय तक जारी रहेगी, जब तक कि इस शाखा में मुनाफ़ा साधारण स्तर पर उतर न आये या, यूँ कहिये, कि जब तक कि इस शाखा की पैदावार का दाम अति-उत्पादन के कारण उत्पादन-व्यय से भी नीचे न पहुँच जाये।

---

* यहाँ इशारा उस अत्यन्त उलझी हुई गाँठ से है, जिससे एक मिथक के अनुसार फ़्रिजियन राजा गोर्डियस ने जूए को रथ के डण्डे से बाँध दिया था। इस सम्बन्ध में एक देववाणी हुई थी, जिसमें कहा गया था कि गाँठ खोलनेवाला व्यक्ति एशिया का राजा बन जायेगा। सिकन्दर महान ने गाँठ खोलने के बजाय उसे तलवार से काट डाला था। सं.

इसके विपरीत, यदि किसी माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय से नीचे गिर जाता है, तो ऐसी दशा में उस माल के उत्पादन से पूँजी निकाल ली जायेगी और उद्योग की उन शाखाओं की बात छोड़कर, जो पुरानी पड़ चुकी हैं और फलतः जिनका अन्त अवश्यम्भावी है, ऐसे माल का उत्पादन, यानी उसकी पूर्ति, बराबर पूँजी निकलती रहने के कारण तब तक घटती जायेगी, जब तक कि वह माँग के अनुरूप न हो जाये और इस प्रकार उसका दाम पुनः उसके उत्पादन-व्यय के स्तर पर न आ जाये, बल्कि यूँ कहिये, कि जब तक वह माँग से घट न जाये, अर्थात जब तक उसका दाम उत्पादन-व्यय से पुनः बढ़ न जाये, क्योंकि **हर माल का चालू दाम हमेशा उसके उत्पादन-व्यय से या तो ज़्यादा या कम होता है।**

हम देखते हैं कि पूँजी किस प्रकार चलायमान है और किस प्रकार उद्योग की एक शाखा से दूसरी शाखा में उसका आवागमन होता रहता है। दाम ऊँचे होने पर पूँजी की भरमार हो जाती है और दाम गिरने पर बड़ी तादाद में पूँजी निकल भागती है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से हम यह दिखा सकते हैं कि न केवल पूर्ति बल्कि माँग भी उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन इस चर्चा से हम अपने विषय से बहुत दूर हट जायेंगे।

हमने अभी-अभी देखा कि किस प्रकार पूर्ति और माँग का उतार-चढ़ाव किसी भी माल के दाम को बार-बार उत्पादन-व्यय के स्तर पर लौटा लाता है। **यह सही है कि किसी भी माल का असली दाम उत्पादन-व्यय के सदा ऊपर या नीचे रहता है; लेकिन उतार और चढ़ाव एक दूसरे का पलड़ा बराबर करते रहते हैं;** इसलिए एक निश्चित अवधि के भीतर, उद्योग में आनेवाली मन्दी और तेज़ी को देखते हुए मालों का एक दूसरे के साथ विनिमय उनके उत्पादन-व्यय के अनुसार होता है और इसलिए उनके दाम उनके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम के निर्धारण को उस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए, जिस अर्थ में अर्थशास्त्री ग्रहण करते हैं। अर्थशास्त्री कहते हैं कि मालों का **औसत दाम** उनके उत्पादन-व्यय के बराबर होता है और यह एक **नियम** है। दामों की यह उच्छृंखल गति, जिसमें तेज़ी और मन्दी एक दूसरे की पूरक हैं, उनकी दृष्टि में संयोग की बात है। उतने ही अधिकारपूर्वक हम यह भी कह सकते हैं कि दाम का उतार-चढ़ाव ही नियम है और उत्पादन-व्यय द्वारा दामों का निर्धारण संयोग की बात है, जैसा कि दूसरे अर्थशास्त्रियों ने वास्तव में कहा भी है। इन उतार-चढ़ावों में ही, जो, ज़्यादा गहराई से देखा जाये तो अपने साथ भयंकर विनाश लाते हैं और भूकम्प की तरह बुर्जुआ समाज की नींव तक हिला देते हैं, इन उतार-चढ़ावों के प्रक्रम में ही मालों के दाम उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं। इस अव्यवस्था की सम्पूर्ण गति को देखिये तो वही उसकी व्यवस्था है। इस औद्योगिक अराजकता के दौरान,

इस चक्कर काटती हुई गति में, होड़ एक अति के ज़रिये दूसरी अति करके उनका पलड़ा बराबर कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय द्वारा इस तरीक़े से निर्धारित होता है कि जिन अवधियों में उत्पादन-व्यय के मुक़ाबले में माल के दाम बढ़ जाते हैं, उनका प्रतिसन्तुलन ऐसी अवधियों द्वारा होता रहता है, जिनमें माल के दाम उत्पादन-व्यय से नीचे चले जाते हैं; यही चीज़ विपरीत रूप में भी घटित होती है। ज़ाहिर है कि यह चीज़ अलग-अलग या ख़ास तरह की औद्योगिक पैदावार पर नहीं लागू होती, बल्कि वह उत्पादन की पूरी शाखा पर ही लागू होती है। फलतः, वह अलग-अलग उद्योगपतियों पर नहीं, बल्कि उद्योगपतियों के पूरे वर्ग पर लागू होती है।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम का निर्धारण माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा उसके निर्धारण के ही समान है, क्योंकि उत्पादन-व्यय में दो चीज़ें शामिल होती हैं 1) कच्चा माल तथा औज़ारों की घिसाई, यानी ऐसे औद्योगिक उत्पाद, जिनके उत्पादन में कुछ श्रम-दिवस लगे हैं और फलतः जो श्रम-काल की एक विशेष मात्रा के द्योतक हैं, और 2) प्रत्यक्ष श्रम, जिसका मापदण्ड भी समय ही है।

ज़ाहिर है कि वे ही सामान्य नियम, जो आम तौर से मालों के दामों का नियमन करते हैं, **मज़दूरी श्रम के दाम** का भी नियमन करते हैं।

मज़दूरी भी, पूर्ति और माँग के सम्बन्ध के आधार पर, श्रम-शक्ति ख़रीदनेवाले पूँजीपतियों, और श्रम-शक्ति बेचनेवाले, मज़दूरों, के बीच चलनेवाली होड़ की करवटों के अनुसार घटेगी-बढ़ेगी। मज़दूरी का उतार-चढ़ाव मोटे तौर पर मालों के दामों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप होता है। **लेकिन इस उतार-चढ़ाव की सीमाओं में श्रम का दाम उत्पादन-व्यय द्वारा ही, श्रम-शक्ति नामक इस माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा ही निर्धारित होता है।**

तब फिर श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय क्या है?

यह वह व्यय है, जो मज़दूर को मज़दूर की हैसियत से ज़िन्दा रखने तथा उसे मज़दूर के रूप में विकसित करने में लगता है।

अतः किसी काम के लिए अपेक्षित प्रशिक्षण में जितना ही कम समय लगता है, मज़दूर का उत्पादन-व्यय उतना ही कम होता है और उतना ही कम उसके श्रम का दाम, यानी उसकी मज़दूरी होती है। उद्योग की उन शाखाओं में, जिनमें प्रशिक्षण की ख़ास ज़रूरत नहीं होती और जहाँ मज़दूर का केवल शारीरिक रूप में मौजूद रहना ही काफ़ी होता है, मज़दूर का उत्पादन-व्यय लगभग उन मालों तक ही सीमित रहता है, जो उसे ज़िन्दा रखने और काम के योग्य बनाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं। इसलिए **मज़दूर के श्रम का दाम जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दाम से** निर्धारित होता है।

लेकिन यहाँ एक और बात विचारणीय है।

कारख़ानेदार अपने उत्पादन-व्यय तथा उसके अनुसार मालों के दाम का हिसाब लगाते समय श्रम के औज़ारों की घिसाई का भी ख़याल रखता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मशीन की लागत 1,000 मार्क है और वह दस साल में घिसकर बेकार हो जाती है, तो कारख़ानेदार अपने माल के दाम में हर साल 100 मार्क जोड़ता जायेगा, ताकि दस साल बाद वह घिसी हुई मशीन की जगह एक नयी मशीन लगा सके। इसी प्रकार, साधारण श्रम-शक्ति के उत्पादन-व्यय का हिसाब लगाते समय उसमें उस पुनरुत्पादन का ख़र्च भी शामिल करना होगा, जिसके द्वारा मज़दूरों की नस्ल चलती रहती है और जीर्ण-शीर्ण मज़दूरों की जगह नये मज़दूर आते रहते हैं। इस प्रकार, मशीन की घिसाई की तरह मज़दूर के घिस जाने का भी ख़याल रखा जाता है।

इस प्रकार साधारण श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय **मज़दूर के जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के ख़र्च** के बराबर होता है। जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के इस ख़र्च के दाम का ही नाम मज़दूरी है। इस प्रकार जो मज़दूरी निर्धारित होती है, उसे **न्यूनतम मज़दूरी** कहते हैं। सामान्य रूप से उत्पादन-व्यय द्वारा मालों के दाम-निर्धारण की तरह ही यह न्यूनतम मज़दूरी **अलग-अलग मज़दूरों** पर नहीं, बल्कि पूरे मज़दूर समुदाय पर लागू होती है। अलग-अलग मज़दूरों को, करोड़ों मज़दूरों को इतना भी नहीं मिलता कि वे ख़ुद ज़िन्दा रह सकें और अपनी नयी पौध तैयार कर सकें। लेकिन सारे उतार-चढ़ाव की सीमाओं में **पूरे मज़दूर वर्ग की मज़दूरी** का स्तर यही न्यूनतम स्तर है।

उन अत्यन्त सामान्य नियमों को समझ लेने के बाद, जो अन्य मालों के दामों की तरह मज़दूरी का भी नियमन करते हैं, अब हम अपने विषय की अधिक गहराई से चर्चा कर सकते हैं।

पूँजी में वह कच्चा माल, श्रम के वे औज़ार और जीवन-निर्वाह के वे सभी प्रकार के साधन शामिल हैं, जो नया कच्चा माल, श्रम के नये औज़ार तथा जीवन-निर्वाह के नये साधन पैदा करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। पूँजी के ये सभी संघटक अंग श्रम की उपज हैं, श्रम की पैदावार हैं, **संचित श्रम** हैं। जब संचित श्रम का नये उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है, तब वह पूँजी कहलाता है।

अर्थशास्त्रियों का कहना यही है।

एक नीग्रो गुलाम क्या है? काली नस्ल का एक आदमी। यह व्याख्या भी पूँजी की उपरोक्त व्याख्या जैसी ही है।

नीग्रो सिर्फ़ नीग्रो होता है। केवल कुछ ख़ास सम्बन्धों की स्थिति में ही वह गुलाम बन जाता है। रूई कातने की जेनी एक मशीन है, जो रूई कातने के काम आती है। केवल कुछ ख़ास सम्बन्धों की स्थिति में ही वह **पूँजी** बन जाती है। जैसे सोना अपने

आप **मुद्रा** नहीं होता और चीनी खुद चीनी का दाम नहीं होती, वैसे ही इन ख़ास सम्बन्धों से विच्छिन्न होकर रूई कातने की जेनी-मशीन भी पूँजी नहीं रहती।

उत्पादन के सिलसिले में हम न केवल प्रकृति पर अपना प्रभाव डालते हैं, बल्कि आपस में एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। एक ख़ास ढंग से आपस में सहयोग करके और अपने क्रियाकलाप का पारस्परिक विनिमय करके ही हम उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए हमें एक दूसरे के साथ ख़ास ढंग के सम्बन्ध और रिश्ते क़ायम करने होते हैं और केवल इन सामाजिक सम्बन्धों और रिश्तों के तहत काम करते हुए हम प्रकृति पर अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं, यानी उत्पादन करने में सफल होते हैं।

वे सामाजिक सम्बन्ध, जो उत्पादक एक दूसरे के साथ स्थापित करते हैं, वे परिस्थितियाँ, जिनमें वे अपने क्रियाकलापों का विनिमय करते हैं और उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में भाग लेते हैं, उत्पादन के साधनों के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः भिन्न-भिन्न होंगी। जब युद्ध के एक नये अस्त्र, आग्नेय अस्त्र का आविष्कार हुआ, तो सेना का पूरा भीतरी ढाँचा लाज़िमी तौर से बदल गया। वे सम्बन्ध, जिनके आधार पर अलग-अलग व्यक्ति एक सेना के रूप में संघटित हो सकते हैं, सेना के रूप में व्यवहार कर सकते हैं, बिल्कुल बदल गये; साथ-साथ सेनाओं के एक दूसरे के साथ सम्बन्ध भी बदल गये।

इस प्रकार, उत्पादन के भौतिक साधनों, उत्पादक शक्तियों, के परिवर्तन तथा विकास के साथ-साथ वे सामाजिक सम्बन्ध भी, जिनके अन्तर्गत अलग-अलग व्यक्ति उत्पादन करते हैं, **उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं, रूपान्तरित हो जाते हैं। उत्पादन-सम्बन्धों को यदि समग्र रूप में लिया जाये, तो वे ही सामाजिक सम्बन्ध हैं, समाज हैं और विशेष रूप से वह समाज हैं, जो ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल पर क़ायम है** और जिसका एक विशिष्ट पृथक चरित्र है। **प्राचीन रोमन-यूनानी** समाज, **सामन्ती** समाज, **बुर्जुआ** समाज ये सब उत्पादन-सम्बन्धों के इस प्रकार के समाहार हैं और साथ ही, इनमें से हर एक मानवजाति के ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल का द्योतक है।

पूँजी भी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह **बुर्जुआ उत्पादन-सम्बन्ध है**, बुर्जुआ समाज का उत्पादन-सम्बन्ध है। जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार और कच्चा माल यानी वे तमाम चीज़ें, जो पूँजी में शामिल हैं क्या इनका उत्पादन और संचय कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? नये उत्पादन के लिए इन सब चीज़ों का इस्तेमाल क्या कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? और क्या यह निश्चित प्रकार का सामाजिक स्वरूप ही उन मालों को, जो एक नया माल बनाने में काम आते हैं, **पूँजी**

में नहीं परिवर्तित कर देता?

पूँजी में केवल जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार और कच्चा माल, अर्थात भौतिक पदार्थ ही नहीं शामिल होते; उसमें उतने ही **विनिमय-मूल्य** भी शामिल रहते हैं। पूँजी में जितनी भी चीज़ें शामिल हैं वे सब माल हैं। इसलिए पूँजी केवल भौतिक उत्पादों का योग नहीं है; वह मालों का, विनिमय-मूल्यों का, **सामाजिक परिमाणों** का भी योग है।

हम चाहे ऊन की जगह कपास, गेहूँ की जगह चावल या रेलगाड़ी की जगह जहाज़ रख दें, पर पूँजी वही रहेगी, बशर्ते कि पूँजी के नये रूप कपास, चावल और जहाज़ का विनिमय-मूल्य, अर्थात दाम वही रहे, जो ऊन, गेहूँ और रेलगाड़ी यानी पूँजी के पुराने रूप का था। पूँजी के रूप में लगातार तबदीली होने के बावजूद पूँजी में ज़रा भी परिवर्तन न होगा।

लेकिन जहाँ समस्त पूँजी मालों, अर्थात विनिमय-मूल्यों का योग होती है, वहाँ मालों का, अर्थात विनिमय-मूल्यों का प्रत्येक योग पूँजी नहीं होता।

विनिमय-मूल्यों का प्रत्येक योग विनिमय-मूल्य होता है। प्रत्येक अलग-अलग विनिमय-मूल्य विनिमय-मूल्यों का योग होता है। उदाहरण के लिए, 1,000 मार्क का एक मकान 1,000 मार्क के विनिमय-मूल्य का द्योतक है। एक काग़ज़ का टुकड़ा, जिसकी क़ीमत एक फ़ेनिग है, एक फ़ेनिग के सौ शताँशों के विनिमय-मूल्यों का जोड़ है। जिन उत्पादित वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय किया जा सकता है, उन्हें **माल** कहते हैं। जिस ख़ास अनुपात में उनका विनिमय किया जा सकता है, वह उनका **विनिमय-मूल्य**, या मुद्रा रूप में उनका **दाम** कहलाता है। इन वस्तुओं का परिमाण चाहे जो भी हो, उससे उनके **माल** होने के, या एक **विनिमय-मूल्य** का द्योतक होने के, अथवा एक निश्चित **दाम** का होने के गुण में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। पेड़ चाहे बड़ा हो या छोटा, वह रहता पेड़ ही है। अन्य चीज़ों के साथ लोहे का हम औंसों में विनिमय करते हैं, या हण्ड्रेडवेटों में, क्या इससे माल या विनिमय-मूल्य होने की उसकी विशेषता में कोई अन्तर पड़ेगा? हाँ, मात्रा जितनी होगी, उसके अनुसार इस माल का मूल्य कम होगा या ज़्यादा, उसका दाम कम होगा या ज़्यादा।

तब फिर मालों या विनिमय-मूल्यों की कोई निश्चित मात्रा किस प्रकार पूँजी बन जाती है?

प्रत्यक्ष, जीवित श्रम-शक्ति के साथ विनिमय द्वारा अपने को एक स्वतन्त्र सामाजिक **शक्ति**, अर्थात **समाज के एक हिस्से** की शक्ति के रूप में क़ायम रखकर और अपनी वृद्धि करके। एक ऐसे वर्ग का अस्तित्व, जिसके पास श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, पूँजी के लिए पूर्वापेक्षित है।

पूर्वसंचित, फलीभूत श्रम का प्रत्यक्ष, जीवित श्रम के ऊपर आधिपत्य ही संचित श्रम को पूँजी में बदल देता है।

पूँजी का अर्थ यह नहीं है कि पूर्वसंचित श्रम नये उत्पादन के साधन के रूप में जीवित श्रम के काम आये। पूँजी का अर्थ है जीवित श्रम पूर्वसंचित श्रम के विनिमय-मूल्य को क़ायम रखने और बढ़ाने के साधन के रूप में उसके काम आये।

पूँजीपति और उजरती मज़दूर के बीच विनिमय होने पर क्या होता है?

मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति के बदले में जीवन-निर्वाह के साधन मिलते हैं, जबकि पूँजीपति को इन जीवन-निर्वाह के साधनों के बदले में श्रम, अर्थात मज़दूर की उत्पादक क्रिया प्राप्त होती है, वह सृजनात्मक शक्ति प्राप्त होती है, जिससे मज़दूर केवल उतना ही नहीं पैदा करता, जितना वह उपभोग करता है, बल्कि **वह पूर्वसंचित श्रम में नया मूल्य जोड़ देता है, जो उसमें पहले नहीं था।** पूँजीपति से मज़दूर को जीवन-निर्वाह के सुलभ साधनों का एक भाग मिल जाता है। जीवन-निर्वाह के ये साधन मज़दूर के किस काम आते हैं? तात्कालिक उपभोग के काम आते हैं। लेकिन जैसे ही मैं जीवन-निर्वाह के इन साधनों का उपभोग कर लेता हूँ, वैसे ही मेरे लिए वे नष्ट हो जाते हैं, बशर्ते कि मैं उनके उपभोग पर ज़िन्दा रहने का समय नये जीवन-निर्वाह के साधन पैदा करने में उपभोग में नष्ट हुए मूल्यों के स्थान पर अपने श्रम द्वारा नये मूल्य पैदा करने में न लगाऊँ। परन्तु मज़दूर ठीक अपनी इसी महान पुनरुत्पादक शक्ति को जीवन-निर्वाह के साधनों के बदले पूँजीपति के हवाले कर देता है। अतः वह उससे हाथ धो बैठता है।

एक मिसाल लीजिये। एक फ़ार्मर, मान लीजिये, अपने खेत-मज़दूर को चाँदी के 5 सिक्के प्रतिदिन देता है। इन 5 सिक्कों के बदले खेत-मज़दूर दिन भर फ़ार्मर के खेत पर काम करता है और उसके लिए 10 सिक्कों का मूल्य पैदा कर देता है। फ़ार्मर को न केवल वह मूल्य वापस मिल जाता है, जो इसने खेत-मज़दूर को दिया था, बल्कि वह दुगुना हो जाता है। फलतः फ़ार्मर ने उन 5 सिक्कों का, जो उसने खेत-मज़दूर को दिये थे, लाभदायक तथा उत्पादक ढंग से इस्तेमाल किया। चाँदी के 5 सिक्के देकर उसने खेत-मज़दूर की इतनी मेहनत और शक्ति ख़रीद ली है, जो दुगुने मूल्य की खेती की पैदावार पैदा कर देती हैं और चाँदी के पाँच सिक्कों को दस बना देती हैं। दूसरी ओर, खेत-मज़दूर को अपनी उत्पादक-शक्ति के बदले में, जिसका फल उसने फ़ार्मर के हाथ बेच डाला है, चाँदी के 5 सिक्के मिलते हैं, जिनका वह जीवन-निर्वाह के साधनों से विनिमय कर लेता है और इन साधनों का वह कमोबेश तेज़ी के साथ उपभोग कर डालता है। अतएव, चाँदी के 5 सिक्के यहाँ दो तरह से इस्तेमाल होते हैं पूँजी के लिए **उत्पादक ढंग से**, इसलिए कि उनका विनिमय ऐसी श्रम-शक्ति* के साथ हुआ है, जिसने 10 सिक्के पैदा कर दिये; और

---

* "श्रम-शक्ति" शब्द यहाँ एंगेल्स ने नहीं जोड़ा है, बल्कि वह उस पाठ में ही था, जो मार्क्स ने *Neue Rheinishe Zeitung* में प्रकाशित किया था। सं.

मज़दूर के लिए **अनुत्पादक ढंग से**, इसलिए कि उनका विनिमय जीवन-निर्वाह के साधनों के साथ हुआ है, जो सदा के लिए विलीन हो गये हैं और जिनका मूल्य फ़ार्मर के साथ उसी प्रकार के विनिमय द्वारा ही प्रतिलब्ध हो सकता है। **इस प्रकार, पूँजी के लिए उजरती श्रम पूर्वापेक्षित है और उजरती श्रम के लिए पूँजी; दोनों एक दूसरे के अस्तित्व को निश्चित करते हैं; दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।**

सूती मिल में काम करनेवाला एक मज़दूर क्या सिर्फ़ सूती कपड़ा तैयार करता है? नहीं, वह पूँजी तैयार करता है। वह इस प्रकार के मूल्य उत्पन्न करता है, जिनके द्वारा उसकी मेहनत फिर से इस्तेमाल में लायी जाती है, जिसके फलस्वरूप वह और भी नये मूल्य पैदा करता है।

पूँजी श्रम-शक्ति के साथ अपना विनिमय करके, अर्थात उजरती श्रम को गतिशील करके ही बढ़ सकती है। उजरती मज़दूर की श्रम-शक्ति का पूँजी के साथ विनिमय पूँजी को बढ़ाकर ही हो सकता है, उस शक्ति को मज़बूत बनाकर ही हो सकता है, जिसका वह गुलाम है। **अतएव, पूँजी के बढ़ने का मतलब है सर्वहारा, यानी मज़दूर वर्ग का बढ़ना।**

पूँजीपति और उनके अर्थशास्त्री चीख़-चीख़ कर कहते हैं इसीलिए तो पूँजीपति और मज़दूर दोनों के हित **बिल्कुल एक हैं।** बेशक! यदि पूँजीपति मज़दूर को काम पर न लगाये, तो मज़दूर ज़िन्दा नहीं रह सकता और यदि पूँजी श्रम-शक्ति का शोषण न करे, तो वह ज़िन्दा नहीं रह सकती। अत: श्रम-शक्ति का शोषण करने के लिए आवश्यक है कि पूँजी उसे ख़रीदे। उत्पादन के लिए उद्दिष्ट पूँजी, अर्थात उत्पादक पूँजी, जितनी तेज़ी से बढ़ती है, उतनी ही तेज़ी से उद्योग फलता-फूलता है; पूँजीपति जितना ही मालामाल होता है और रोज़गार जितना ही चमकता है, पूँजीपति को उतने ही अधिक मज़दूरों की आवश्यकता होती है और मज़दूर अपने को उतने ही महँगे दामों में बेचता है।

इसलिए मज़दूर की सन्तोषजनक स्थिति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि **उत्पादक पूँजी की अधिक से अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती हो।**

लेकिन उत्पादक पूँजी की बढ़ती का क्या अर्थ है? जीवित श्रम पर पूर्वसंचित श्रम के प्रभुत्व का बढ़ना। मज़दूर वर्ग पर पूँजीपति वर्ग के प्रभुत्व का बढ़ना। जब उजरती श्रम दूसरों की उस दौलत को पैदा करता है, जो तो स्वयं उस पर शासन करती है, पूँजी को, अर्थात उस शक्ति को पैदा करता है, जो उसकी शत्रु है, तभी यह शत्रु-शक्ति उसे रोज़गार के साधन, जीवन-निर्वाह के साधन इस शर्त पर देती है कि वह अपने को फिर पूँजी का एक भाग बना ले, वह उत्तोलक बना ले, जो पूँजी को पुन: त्वरित विकास की वेगवती धारा में डाल सके।

यह कहने का अर्थ कि पूँजी और मज़दूरों के हित बिल्कुल एक हैं

वास्तव में यही है कि पूँजी और उजरती श्रम एक ही सम्बन्ध के दो पहलू हैं। एक पर दूसरा उसी प्रकार निर्भर रहता है, जिस प्रकार सूदख़ोर और फ़िज़ूलख़र्च एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

जब तक उजरती मज़दूर उजरती मज़दूर है, तब तक उसका भाग्य पूँजी पर निर्भर करता है। यही मज़दूर और पूँजीपतियों के हितों की वह एकता है, जिसका इतना ढोल पीटा जाता है।

यदि पूँजी में वृद्धि होती है, तो उजरती श्रम का परिमाण भी बढ़ता है और उजरती मज़दूरों की संख्या में भी बढ़ती होती है; संक्षेप में, पूँजी का प्रभुत्व पहले से अधिक संख्या में लोगों पर फैल जाता है। आइये, हम सबसे अनुकूल परिस्थिति की कल्पना करें : जब उत्पादक पूँजी बढ़ती है, तो श्रम की माँग भी बढ़ती है और फलस्वरूप श्रम का दाम यानी मज़दूरी भी बढ़ जाती है।

घर चाहे छोटा हो या बड़ा, जब तक उसके आसपास के घर भी उतने ही छोटे होते हैं, तब तक घर के लिए समस्त सामाजिक माँग उससे पूरी हो जाती है। लेकिन इस छोटे-से घर की बग़ल में एक महल खड़ा हो जाने दीजिये, तब वह छोटा-सा घर घर न रहकर झोपड़ा बन जायेगा। अब यह छोटा-सा घर यह ज़ाहिर करेगा कि उसके मालिक की माँग बहुत कम है, या नहीं के बराबर है। और फिर, सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह छोटा-सा घर चाहे जितना ऊँचा उठ जाये, यदि वह पड़ोस का महल भी उतना ही या उससे भी अधिक ऊपर उठता जाता है, तो इस अपेक्षाकृत छोटे घर में रहनेवाला व्यक्ति उसकी चाहरदीवारी के भीतर अपने को अधिकाधिक बेचैन, असन्तुष्ट और जकड़ा हुआ महसूस करेगा।

मज़दूरी में किसी प्रकार की दृष्टव्य बढ़ती होने के पहले यह आवश्यक है कि उत्पादक पूँजी में तेज़ी से बढ़ती हो। उत्पादक पूँजी की तेज़ी से बढ़ती होने पर धन-दौलत, ऐश-आराम के सामान, सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक आमोद-प्रमोद के साधनों की भी उसी गति से बढ़ती होती है। इस प्रकार, यद्यपि मज़दूरों के उपभोग के साधनों में वृद्धि हो जाती है, लेकिन उनसे जो सामाजिक सन्तोष होता है वह पूँजीपतियों के पहले से बढ़े हुए उपभोग की तुलना में, जो मज़दूर की पहुँच के बाहर रहता है, और समाज के सामान्य विकास-स्तर की तुलना में पहले से कम हो जाता है। हमारी आवश्यकताएँ और हमारे आनन्द की कल्पनाएँ समाज से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम उनकी माप समाज से करते हैं न कि उन साधनों से, जिनके द्वारा उनकी पूर्ति होती है। चूँकि उनका स्वरूप सामाजिक है इसीलिए सापेक्षिक भी है।

आम तौर पर मज़दूरी केवल मालों के उन परिमाणों द्वारा निश्चित नहीं होती, जिनसे हम मज़दूरी का विनिमय कर सकते हैं। मज़दूरी में अनेक प्रकार के सम्बन्ध निहित होते हैं।

मज़दूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में जो मिलता है, वह सबसे पहले मुद्रा की एक निश्चित रक़म होती है। क्या मज़दूरी केवल इस मुद्रारूपी दाम से निश्चित होती है?

सोलहवीं सदी में अमेरिका में सोने-चाँदी की अधिक उर्वर और आसानी से प्रयोग में लायी जानेवाली ख़ानों की खोज के फलस्वरूप यूरोप में सोने-चाँदी के परिचलन की मात्रा बढ़ गयी। अस्तु, दूसरे मालों की तुलना में सोने और चाँदी का मूल्य घट गया। मज़दूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में पहले जितने ही चाँदी के सिक्के मिलते रहे। मुद्रारूप में उनके श्रम का दाम वही था, मगर वास्तव में उनकी मज़दूरी कम हो गयी थी, क्योंकि उतनी ही चाँदी के बदले में अब मज़दूरों को पहले से कम मात्रा में दूसरे माल मिलने लगे। सोलहवीं सदी में पूँजी के अधिक बढ़ने और बुर्जुआ वर्ग के उदय का यह भी एक कारण था।

एक दूसरी मिसाल लीजिये। 1847 के जाड़ों में फ़सल मारी जाने के कारण अनाज, मांस, मक्खन, पनीर, आदि जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों के दाम बहुत काफ़ी बढ़ गये। अब मान लीजिये कि मज़दूरों को उनकी श्रम-शक्ति के बदले में पहले की ही रक़म मिलती रही, तब क्या उनकी मज़दूरी में कमी नहीं आयी? ज़ाहिर है, आ गयी। अब उन्हें उतनी ही रक़म के बदले में पहले से कम रोटी, मांस, आदि मिलता है। अवश्य ही उनकी मज़दूरी में कमी हो गयी; वह इसलिए नहीं की चाँदी का मूल्य घट गया, बल्कि इसलिए कि जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य बढ़ गया।

अन्त में, मान लीजिये कि श्रम का मुद्रारूपी दाम वही रहता है, लेकिन नयी मशीनों का प्रयोग होने तथा मौसम के अनुकूल होने, आदि के कारण खेती तथा उद्योग-धन्धों की हर प्रकार की उपज के दाम गिर जाते हैं। ऐसी हालत में मज़दूर उतनी ही मुद्रा से सभी तरह के माल पहले से ज़्यादा मात्रा में ख़रीद सकेंगे। अस्तु, मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ती हो जायेगी, ठीक इसलिए कि उनकी मज़दूरी के मुद्रारूपी मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

इस प्रकार, श्रम का मुद्रारूपी दाम, नक़द मज़दूरी वास्तविक मज़दूरी से, अर्थात मज़दूरी के बदले में वास्तव में प्राप्त तमाम मालों से मेल नहीं खाती। इसलिए यदि हम मज़दूरी के घटने-बढ़ने की चर्चा करें, तो यह ज़रूरी है कि हम केवल श्रम के मुद्रारूपी दाम का, सिर्फ़ नक़द मज़दूरी का ही ध्यान न रखें।

लेकिन मज़दूरी में निहित सम्बन्धों की इति न तो नक़द मज़दूरी, अर्थात उस रक़म से होती है, जिसके लिए मज़दूर अपने को पूँजीपति के हाथ बेच देता है, और न वास्तविक मज़दूरी, अर्थात मालों के उस परिमाण से होती है, जो इस रक़म से वह ख़रीद सकता है।

मज़दूरी तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी सर्वप्रथम पूँजीपति के लाभ के साथ

यानी उसके मुनाफ़े के साथ अपने सम्बन्ध द्वारा भी निर्धारित होती है।

वास्तविक मज़दूरी अन्य मालों के दामों के सम्बन्ध में श्रम का दाम ज़ाहिर करती है; दूसरी ओर, सापेक्ष मज़दूरी श्रम द्वारा पैदा किये गये नये मूल्य के उस भाग को, जो प्रत्यक्ष श्रम के हिस्से में आता है, मूल्य के उस दूसरे भाग के सम्बन्ध में ज़ाहिर करती है, जो संचित श्रम अर्थात पूँजी के हिस्से में आता है।

पहले पृष्ठ 21 पर* हमने कहा था "मज़दूरी मज़दूर द्वारा उत्पादित माल में मज़दूर का हिस्सा नहीं है; मज़दूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है, जिसके द्वारा पूँजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति ख़रीदता है।" लेकिन पूँजीपति के लिए यह लाज़िमी है कि वह मज़दूर द्वारा पैदा किये हुए माल को बेचकर उसके दाम से मज़दूरी की पुन: पूर्ति कर ले, और मज़दूरी की पूर्ति वह इस प्रकार करे कि, आम तौर पर, उसके लिए उसके द्वारा लगाये हुए उत्पादन-व्यय से ऊपर, कुछ अतिरिक्त मूल्य मुनाफ़ा बच जाये। पूँजीपति के लिए मज़दूर द्वारा तैयार किये हुए मालों का विक्रय-दाम तीन भागों में बँटा होता है : **पहला,** पूँजीपति द्वारा लगाये हुए कच्चे माल और साथ-साथ औज़ारों, मशीनों तथा श्रम के अन्य साधनों की घिसाई की पूर्ति; **दूसरा,** पूँजीपति द्वारा दी गयी मज़दूरी की पूर्ति और **तीसरा,** बाक़ी बची बेशी, अर्थात पूँजीपति का मुनाफ़ा। जहाँ पहला भाग केवल **पहले से मौजूद मूल्यों** की पूर्ति करता है, वहाँ यह स्पष्ट है कि मज़दूरी की पूर्ति और पूँजीपति का मुनाफ़ा दोनों ही पूरी तरह उस **नये मूल्य** से आते हैं, **जिसे मज़दूर के श्रम ने उत्पन्न किया है** और कच्चे माल के मूल्य में जोड़ दिया है। और **इस अर्थ में** मज़दूरी और मुनाफ़े की एक दूसरे के साथ तुलना करने के लिए हम मज़दूरी और मुनाफ़ा दोनों को मज़दूर की मेहनत की उपज के हिस्से मान सकते हैं।

यह सम्भव है कि वास्तविक मज़दूरी उतनी ही रहे या बढ़ भी जाये और फिर भी सापेक्ष मज़दूरी घट जाये। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि जीवन-निर्वाह के सभी साधनों के दाम दो-तिहाई घट गये हैं, जबकि रोज़ाना मज़दूरी केवल एक-तिहाई कम हुई है, यानी अगर किसी मज़दूर की रोज़ाना मज़दूरी पहले 3 मार्क थी, तो अब वह 2 मार्क रह गयी है। ऐसी दशा में मज़दूर पहले 3 मार्क में माल की जितनी मात्रा प्राप्त कर सकता था अब वह 2 मार्क में ही उससे ज़्यादा हासिल कर सकता है; मगर फिर भी, पूँजीपति के मुनाफ़े के मुक़ाबले में मज़दूर की मज़दूरी कम हो गयी। पूँजीपति (उदाहरणार्थ, कारख़ानेदार) के मुनाफ़े में एक मार्क की बढ़ती हुई, अर्थात विनिमय-मूल्यों की घटी हुई रक़म जो अब वह मज़दूर को देगा, उसके एवज़ में मज़दूर को पहले की अपेक्षा अधिक विनिमय-मूल्य पैदा करना होगा। श्रम के हिस्से की तुलना में पूँजी का हिस्सा बढ़ जायेगा और पूँजी और श्रम के

---

* प्रस्तुत पुस्तिका, पृ. 20। सं.

बीच सामाजिक सम्पदा का बँटवारा पहले से भी अधिक असमान हो जायेगा। उतनी ही पूँजी द्वारा अब पूँजीपति पहले से ज़्यादा श्रम को अपने अधीन कर सकेगा। अत: मज़दूर वर्ग पर पूँजीपति वर्ग का प्रभुत्व बढ़ जायेगा, मज़दूर की सामाजिक स्थिति और ख़राब हो जायेगी और पूँजीपति के मुक़ाबले में एक दर्ज़ा और नीचे गिर जायेगी।

तब फिर वह सामान्य नियम क्या है, जो मज़दूरी और मुनाफ़े के पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर्गत उनका उतार-चढ़ाव निर्धारित करता है?

मज़दूरी और मुनाफ़ा एक दूसरे के उल्टे अनुपात में घटते-बढ़ते हैं। पूँजी का हिस्सा, यानी मुनाफ़ा, उसी अनुपात में बढ़ जाता है, जिस अनुपात में श्रम का हिस्सा, यानी मज़दूरी कम हो जाती है और इसी प्रकार पूँजी का हिस्सा घटने पर उसी अनुपात में श्रम का हिस्सा बढ़ता है। जिस हद तक मज़दूरी घट जाती है, उस हद तक मुनाफ़ा बढ़ जाता है और जिस हद तक मज़दूरी बढ़ जाती है, उस हद तक मुनाफ़ा घट जाता है।

इस पर शायद आपत्ति हो सकती है कि पूँजीपति दूसरे पूँजीपतियों के साथ अधिक अनुकूल विनिमय करके, नये बाज़ारों के खुल जाने या पुराने बाज़ारों में तात्कालिक माँग बढ़ जाने, इत्यादि से फ़ायदा उठा सकता है; फलत: यह कि मज़दूरी में घटती-बढ़ती, अर्थात श्रम-शक्ति के विनिमय-मूल्य में घटती-बढ़ती से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से, अन्य पूँजीपतियों से बाज़ी मार ले जाकर मुनाफ़ा बढ़ा सकता है। या पूँजीपति का मुनाफ़ा श्रम के औज़ारों में सुधार होने के कारण या प्राकृतिक शक्तियों के नये ढंग के प्रयोग, आदि के कारण भी बढ़ सकता है।

पहले तो हमें मानना होगा कि इस हालत में भी परिणाम वही हुआ, हालाँकि वह उल्टी तरह से हुआ। यह सच है, मुनाफ़ा इसलिए नहीं बढ़ा कि मज़दूरी कम हो गयी, मगर मज़दूरी इसलिए घटी है कि मुनाफ़ा बढ़ गया है। दूसरे लोगों के उतने ही श्रम द्वारा पूँजीपति ने, मज़दूर को उसके लिए अधिक भुगतान किये बग़ैर अधिक मात्रा में विनिमय-मूल्य हासिल किया है; अत: मज़दूर के श्रम द्वारा उत्पन्न पूँजीपति के शुद्ध मुनाफ़े की तुलना में मज़दूर को कम मज़दूरी मिली है।

इसके अलावा, हमें यह भी याद है कि मालों के दामों में उतार-चढ़ाव होने के बावजूद हर माल का औसत दाम, यानी वह अनुपात, जिसमें दूसरे मालों के साथ उसका विनिमय होता है, सदा **उत्पादन-व्यय** से निर्धारित होता है। इसलिए पूँजीपति वर्ग के अन्दर की पारस्परिक धोखाधड़ी अनिवार्य रूप से पलड़ा बराबर कर देती है। मशीनों में सुधार, उत्पादन में प्राकृतिक शक्तियों के नवीन उपयोग द्वारा उतने ही समय में और उतने ही श्रम और पूँजी से अधिक चीज़ों का उत्पादन होने लगता है, लेकिन पहले से अधिक विनिमय-मूल्य उससे हरगिज़ नहीं पैदा होते। यदि कातने की जेनी-मशीन का इस्तेमाल करके मैं एक घण्टे के अन्दर पहले के मुक़ाबले में दुगुना सूत मान लीजिये, पचास पौण्ड की जगह सौ पौण्ड तैयार करने लगता

हूँ तो लम्बी अवधि के दौरान मुझे इस सौ पौण्ड के बदले में उससे अधिक मात्रा में अन्य माल नहीं मिलेंगे, जितनी मात्रा में पहले पचास पौण्ड सूत के बदले में मिलते थे, इस कारण कि अब उत्पादन-व्यय पहले से आधा हो गया है, अर्थात मैं उसी लागत पर पहले से दूना उत्पादन करने लगा हूँ।

अन्तिम बात यह है कि एक देश या पूरे विश्व-बाज़ार का पूँजीपति वर्ग, बुर्जुआ वर्ग, उत्पादन से होनेवाले शुद्ध मुनाफ़े को अपने बीच चाहे किसी भी अनुपात में बाँटे, लेकिन इस शुद्ध मुनाफ़े का कुल परिमाण केवल उतना ही होगा, जितना कुल मिलाकर प्रत्यक्ष श्रम ने संचित श्रम में जोड़ दिया है। इसलिए यह कुल परिमाण उसी अनुपात में बढ़ता है, जिस अनुपात में श्रम पूँजी की बढ़ती करता है, अर्थात जिस अनुपात में मज़दूरी की तुलना में मुनाफ़ा बढ़ता है।

इस भाँति, हम देखते हैं कि अगर हम **पूँजी और उजरती श्रम के सम्बन्ध के भीतर रहते हैं, तो भी पूँजी के और उजरती श्रम के हित एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी होते हैं।**

पूँजी के तेज़ी से बढ़ने का मतलब मुनाफ़े का तेज़ी से बढ़ना है। मुनाफ़ा तेज़ी से तभी बढ़ सकता है, जब श्रम का दाम, सापेक्ष मज़दूरी उसी तेज़ी से घटे। नक़द मज़दूरी के साथ-साथ, श्रम के मुद्रारूपी मूल्य के साथ-साथ वास्तविक मज़दूरी के बढ़ने पर भी, अगर उसकी वृद्धि उसी अनुपात में नहीं होती, जिसमें मुनाफ़े की होती है, तो सापेक्ष मज़दूरी में गिरावट आ सकती है। उदाहरणार्थ, जब रोज़गार चमका हो, उस समय यदि मज़दूरी में 5 प्रतिशत की बढ़ती होती है और, दूसरी ओर, मुनाफ़े में 30 प्रतिशत की, तब तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी में **बढ़ती नहीं,** बल्कि **घटती होती है।**

इस प्रकार, यद्यपि पूँजी के तेज़ी से बढ़ने के साथ ही मज़दूर की आमदनी बढ़ती है, तथापि उसके साथ-साथ वह सामाजिक खाई और भी गहरी हो जाती है, जो मज़दूर को पूँजीपति से अलग करती है। इसी प्रकार श्रम पर पूँजी का प्रभुत्व और बढ़ जाता है और श्रम पहले से भी अधिक पूँजी पर निर्भर हो जाता है।

यह कहना कि पूँजी के तेज़ी से बढ़ने में मज़दूर का भी हित है, सिर्फ़ यही कहने के बराबर है कि मज़दूर जितनी शीघ्रता के साथ दूसरों की दौलत बढ़ायेगा, उतने ही ज़्यादा दूसरों के खाने से बचे रोटी के टुकड़े उसके सामने फेंके जायेंगे, उतनी ही अधिक तादाद में मज़दूरों को नौकर रखा जा सकेगा, मज़दूरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होगी यानी पूँजी पर निर्भर रहनेवाले गुलामों की तादाद उतनी ही बढ़ जायेगी।

इस प्रकार हमने देखा कि :

मज़दूर वर्ग के लिए **सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति** होने पर भी, यानी **पूँजी** के **ज़्यादा से ज़्यादा तेज़ी से बढ़ने** की हालत में भी, मज़दूर की आर्थिक

दशा में चाहे कितना ही सुधार हो जाये, उसके हितों तथा पूँजीपति के हितों का विरोध नहीं मिटता। **मुनाफ़ा और मज़दूरी** तब भी **एक दूसरे के उल्टे अनुपात में ही** घटते-बढ़ते हैं।

यदि पूँजी तेज़ी से बढ़ रही हो, तो मज़दूरी भी बढ़ सकती है; लेकिन पूँजी का मुनाफ़ा इतनी तेज़ी से बढ़ता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती। मज़दूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। उसे पूँजीपति से अलग करनेवाली सामाजिक खाई और भी चौड़ी हो जाती है।

अन्त में :

यह कहना कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल स्थिति उत्पादक पूँजी की शीघ्रतम वृद्धि है यही कहने के बराबर है कि मज़दूर वर्ग जितनी शीघ्रता से और विस्तृत रूप में उस शक्ति को बढ़ाता है, जो उसकी शत्रु है, उस दौलत को बढ़ाता है, जो उसकी नहीं है और जो उस पर शासन करती है, उतना ही अधिक मज़दूर को पूँजीपतियों की दौलत बढ़ाने के लिए, पूँजी की शक्ति का विस्तार करने के लिए अधिक अनुकूल सुविधाओं के साथ पुनः काम करने का अवसर मिलेगा; और वह उन सुनहरी ज़ंजीरों को गढ़कर सन्तोष करेगा, जिनसे बाँधकर पूँजीपति उसे अपने पीछे घसीटता है।

क्या **उत्पादक पूँजी की बढ़ती** और **मज़दूरी के बढ़ने** में सचमुच वैसा ही अटूट सम्बन्ध है, जैसा बुर्जुआ अर्थशास्त्री बताते हैं? उनके कथन पर ही हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। हमें उनकी इस बात पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए कि पूँजी का मोटापा जितना बढ़ेगा, उतना ही अधिक उसके गुलामों को भी खाना मिलेगा। पूँजीपति वर्ग इस क़द्र होशियार है, इस क़द्र हिसाब करना जानता है कि वह सामन्ती राजा-नवाबों की तरह झूठी शान में आकर अपने नौकर-चाकरों को ठाटबाट के साथ रखनेवाला नहीं है। पूँजीपति वर्ग के जीवन की परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं, जो उसे हिसाब जोड़कर चलने पर मजबूर करती हैं।

इसलिए हमें इसकी अधिक छानबीन करनी होगी :

उत्पादक पूँजी की बढ़ती का मज़दूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है?

यदि बुर्जुआ समाज की उत्पादक पूँजी की, आम तौर पर, बढ़ती हो रही है, तो श्रम का **अधिक बहुविध** संचय होगा। पूँजियों की संख्या और आकार बढ़ जाते हैं। पूँजियों की **संख्या में बढ़ती होने से पूँजीपतियों के बीच होड़** बढ़ जाती है। पूँजियों के **आकार में बढ़ती होते रहने से** वे साधन तैयार हो जाते हैं, जिनसे **मज़दूरों की पहले से अधिक शक्तिशाली सेनाओं को और भी विराट अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित करके औद्योगिक युद्ध-क्षेत्र में उतारा जा सकता है।**

यदि एक पूँजीपति दूसरे पूँजीपति को मैदान से भगाकर उसकी पूँजी पर क़ब्ज़ा कर लेना चाहता है, तो इसका केवल एक यही उपाय है कि वह उससे सस्ता माल

बेचे। यदि बिना अपने को बर्बाद किये वह माल सस्ता बेचना चाहता है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह अपना माल भी अधिक सस्ते में तैयार करे, यानी श्रम की उत्पादक शक्ति अधिक से अधिक बढ़ाये। लेकिन श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ाने का प्रधान उपाय यह है कि **श्रम का पहले से अधिक विभाजन** किया जाये, **मशीनों** का और सार्वत्रिक प्रयोग किया जाये और उनमें लगातार सुधार किये जायें। मज़दूरों की वह सेना जितनी ही बड़ी होगी, जिसमें श्रम का विभाजन किया जायेगा, जितने ही विशाल पैमाने पर मशीनों का प्रयोग किया जायेगा, उतना ही और उसी अनुपात में उत्पादन-व्यय कम हो जायेगा और श्रम उतना ही अधिक फलप्रद होगा। इसीलिए पूँजीपतियों के बीच श्रम का विभाजन करने तथा मशीनों का इस्तेमाल करने और दोनों तरीक़ों का **बड़े से बड़े** पैमाने पर उपयोग करने की आम होड़ आरम्भ हो जाती है।

अब यदि कोई पूँजीपति श्रम का अधिक विभाजन करके, नयी-नयी मशीनें इस्तेमाल करके तथा उनमें सुधार करके और प्राकृतिक शक्तियों का अधिक लाभदायक एवं व्यापक ढंग से उपयोग करके उतने ही श्रम से या उतने ही संचित श्रम से अपने प्रतिद्वन्द्वियों के मुक़ाबले में ज़्यादा माल तैयार करने में कामयाब होता है, उदाहरणार्थ, यदि उतने ही श्रम-काल में, जितने में उसके प्रतिद्वन्द्वी आधा गज़ कपड़ा तैयार करते हैं, वह एक गज़ तैयार करने लगता है, तो वह किस प्रकार व्यवहार करेगा?

वह अब भी पुराने बाज़ार-भाव पर आधा गज़ कपड़ा बेच सकता है; लेकिन इस तरह वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मैदान से नहीं भगा पायेगा और न अपनी बिक्री ही बढ़ा सकेगा। किन्तु जिस हद तक उसका उत्पादन बढ़ा है, उसी हद तक उसकी अपना माल बेचने की आवश्यकता भी बढ़ गयी है। उसने उत्पादन के जिन अधिक शक्तिशाली और महँगे साधनों को गतिशील किया है, **उनकी बदौलत** वह निश्चय ही अपना माल पहले से अधिक सस्ते दामों में बेचने में **समर्थ हो जाता है :** लेकिन साथ ही ये साधन उसे पहले से कहीं **ज़्यादा माल बेचने पर मजबूर करते हैं।** वे उसे अपने माल के लिए पहले से कहीं ज़्यादा **बड़े** बाज़ार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बाध्य करते हैं। फलत: हमारा यह पूँजीपति अपना आधा गज़ कपड़ा अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक सस्ते दामों में बेचने लगता है।

परन्तु, जिस दाम पर उसके प्रतिद्वन्द्वी आधा गज़ कपड़ा बेचते हैं, उस दाम पर वह पूरा एक गज़ कपड़ा नहीं बेचेगा, हालाँकि उसके पूरे गज़ के उत्पादन में उससे अधिक लागत नहीं बैठी है, जितनी दूसरों के आधे गज़ के उत्पादन में बैठी है। क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा, तो उसे कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा नहीं मिलेगा, बस, केवल विनिमय द्वारा उत्पादन-व्यय वापस मिल जायेगा। उसकी आमदनी, सम्भव है, बढ़ जायेगी, लेकिन वह इस कारण बढ़ेगी कि उसने औरों से अधिक पूँजी

गतिशील की है, इस कारण नहीं कि उसने अपनी पूँजी से औरों के मुक़ाबले में ज़्यादा लाभ उठाया है। इसके अलावा, अपने माल का दाम अपने प्रतिद्वन्द्वियों के माल की अपेक्षा कुछ प्रतिशत कम कर देने से ही उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। अपना माल उनसे **सस्ता बेचकर** वह उनको मैदान से भगा देता है, या, कम से कम, उनसे उनकी बिक्री का एक भाग अवश्य छीन लेता है। और अन्त में हमें याद रखना होगा कि किसी भी माल का बाज़ार-भाव उसके **उत्पादन-व्यय** से हमेशा कुछ **कम या ज़्यादा** रहता है, जो इस पर निर्भर करता है कि क्या उस माल की बिक्री उद्योग की अनुकूल अवस्था में हो रही है या प्रतिकूल अवस्था में। उत्पादन के नये तथा अधिक लाभकर साधनों का प्रयोग करनेवाला पूँजीपति अपने माल को असली उत्पादन-व्यय से कितने प्रतिशत अधिक में बेचेगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि एक गज़ कपड़े का बाज़ार-भाव, अभी तक आम तौर पर जो उसका उत्पादन-व्यय हुआ करता था, उससे कम है या ज़्यादा।

परन्तु हमारे पूँजीपति की यह **विशेष सुविधापूर्ण स्थिति** बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहती। दूसरे प्रतिद्वन्द्वी पूँजीपति भी उन्हीं मशीनों का, उसी तरह के श्रम-विभाजन का, उसी या उससे भी बड़े पैमाने पर प्रयोग करने लगते हैं और ये तरीक़े इतने सामान्य हो जाते हैं कि कपड़े का दाम उसके **पुराने ही नहीं,** बल्कि उसके **नये उत्पादन-व्यय से भी नीचे** गिर जाता है।

इसलिए पूँजीपतियों की एक दूसरे की निस्बत फिर वही हालत हो जाती है, जो उत्पादन के नये साधनों के प्रयोग में आने के **पहले** थी। इन साधनों से यदि वे उतने ही दामों में पहले से दूना उत्पादन कर सकते थे, तो **अब** उन्हें इस दूनी पैदावार को पहले के दामों से **कम** कर बेचना होता है। इस नये उत्पादन-व्यय के आधार पर फिर वही पुराना खेल शुरू हो जाता है। श्रम का और अधिक विभाजन होता है और नयी मशीनें आती हैं, पहले से भी बड़े पैमाने पर मशीनों का तथा श्रम-विभाजन का इस्तेमाल किया जाता है। और होड़ इस परिणाम के विरुद्ध फिर उसी प्रकार प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि उत्पादन की प्रणाली और उत्पादन के साधन कैसे लगातार बदलते रहते हैं, क्रान्तिकारी ढंग से रूपान्तरित होते रहते हैं, और **कैसे लाज़िमी तौर पर श्रम-विभाजन के बाद और भी ज़्यादा श्रम-विभाजन होता है, मशीनों के प्रयोग के बाद और भी ज़्यादा मशीनों का प्रयोग होता है और बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के बाद और भी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है।**

यही वह नियम है, जो बार-बार बुर्जुआ उत्पादन को अपनी पुरानी लीक से हटा देता है और पूँजी को इसके लिए बाध्य करता है कि **चूँकि** उसने श्रम की उत्पादक शक्तियों को तीव्र किया है, इसलिए वह उनको और भी तीव्र करे। यही वह नियम है, जो पूँजी को तनिक भी विश्राम नहीं लेने देता और उसके कानों में सदा गुनगुनाया

करता है : "और बढ़ो! और बढ़ो!"

यह वही नियम है, जो व्यापार के उतार-चढ़ाव की अवस्थाओं में हर माल के दाम को अनिवार्यत: **उसके उत्पादन-व्यय के स्तर पर** ला पटकता है।

कोई पूँजीपति उत्पादन के कितने ही शक्तिशाली साधनों को मैदान में क्यों न लाये, होड़ इन साधनों को सार्वत्रिक बना देगी, और जिस क्षण ये साधन सार्वत्रिक हो जायेंगे उसी क्षण से उस पूँजीपति की पूँजी के अधिक फलदायक होने का केवल यही परिणाम होगा कि अब **उसे उतने ही दामों में** पहले से दस गुना, बीस गुना या सौ गुना अधिक माल प्रस्तुत करना होगा। लेकिन अधिक बिक्री द्वारा बिक्री के घटे हुए दामों को बराबर करने के लिए अब चूँकि पहले के मुक़ाबले में उसे शायद एक हज़ार गुना अधिक माल बेचने की आवश्यकता होगी, अब चूँकि अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए ही नहीं, बल्कि उत्पादन-व्यय को पूरा करने के लिए भी (जैसा कि आपने देखा है, उत्पादन के औज़ार अधिकाधिक महँगे होते जाते हैं) उसे बिक्री और भी बढ़ानी होगी, और चूँकि बिक्री का यह विस्तार न केवल उसके लिए, बल्कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, इसलिए उत्पादन के **आविष्कृत साधन जितने ही फलदायी सिद्ध होंगे,** पूँजीपतियों का पुराना संघर्ष **उतने ही भीषण रूप में फिर छिड़ जायेगा। इस प्रकार, श्रम का विभाजन और मशीनों का उपयोग फिर पहले से अधिक बड़े पैमाने पर होने लगेगा।**

उत्पादन के प्रयुक्त साधनों की शक्ति चाहे जितनी हो, होड़ मालों के दामों को फिर उत्पादन-व्यय के स्तर पर खींचकर और इस प्रकार, जिस हद तक उत्पादन सस्ता बनाया जा सकता है, अर्थात जिस हद तक उतने ही श्रम से पहले से अधिक उत्पादन किया जा सकता है, उस हद तक उत्पादन को सस्ता करने यानी उतने ही कुल दाम में अधिकाधिक मात्रा में माल प्रस्तुत करने को एक अनिवार्य नियम बनाकर पूँजी को इस शक्ति के सुनहरे फल से वंचित कर देती है। इस प्रकार, पूँजीपति को अपनी सारी कोशिशों का केवल यह फल मिलता है कि उसे उतने ही श्रम-काल में पहले से अधिक माल प्रस्तुत करना होता है, यानी संक्षेप में कहा जाये, तो **अपनी पूँजी का मूल्य बढ़ाने का काम अब उसे और कठिन परिस्थितियों में करना होता है।** इसलिए जहाँ, एक तरफ़, होड़ अपना उत्पादन-व्यय का नियम लेकर सदा पूँजीपति के पीछे पड़ी रहती है और अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर प्रहार के लिए जो अस्त्र भी वह गढ़ता है वह पलटकर उसी पर चोट करता है, वहीं, दूसरी ओर, बराबर और नयी मशीनें लगाकर गोकि वे ज़्यादा महँगी होती हैं, पर उत्पादन सस्ता कर देती हैं तथा श्रम का पुराने की जगह नया विभाजन करके, बिना इस बात का इन्तज़ार किये कि होड़ उसकी नयी मशीनों को गतप्रयोग बना दे, पूँजीपति होड़ के ऊपर क़ाबू पाने की सतत चेष्टा करता है।

अब यदि हम एकसाथ **विश्व-बाज़ार** में होनेवाली इस ज़बर्दस्त हलचल की

कल्पना करें, तो हम समझ सकेंगे कि पूँजी के विकास, संचय और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप किस प्रकार श्रम का निरन्तर विभाजन होता रहता है और किस प्रकार नयी मशीनों का प्रयोग और पुरानी मशीनों का नवीकरण नित्य बढ़ते हुए पैमाने पर होता रहता है।

लेकिन इन परिस्थितियों का, जिनका उत्पादक पूँजी की बढ़ती के साथ अटूट सम्बन्ध है, मज़दूरी के निर्धारण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

श्रम-विभाजन की वृद्धि की बदौलत **एक** मज़दूर पाँच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। इसलिए उसकी वजह से मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ पहले से पाँच गुनी, दस गुनी या बीस गुनी बढ़ जाती है। मज़दूर इस तरह ही आपस में होड़ नहीं करते कि प्रत्येक अपने को दूसरे से अधिक सस्ते दामों में बेचने की कोशिश करने लगे, बल्कि वे इस तरह भी आपस में होड़ करते हैं कि सिर्फ़ **एक** मज़दूर पाँच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। पूँजी द्वारा लागू किया हुआ और निरन्तर बढ़ता हुआ **श्रम-विभाजन** मज़दूरों को इस प्रकार की होड़ के लिए मजबूर करता है।

इसके अलावा, जैसे-जैसे **श्रम-विभाजन** बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे श्रम **सरल होता जाता है।** मज़दूर की विशेष निपुणता बेकार हो जाती है। वह एक ऐसी सरल, नीरस और यन्त्रवत उत्पादन शक्ति बन जाता है, जिसे तीव्र शारीरिक अथवा बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसका श्रम ऐसा श्रम बन जाता है, जिसे कोई भी कर सकता है। इसलिए उसे चारों ओर से प्रतिद्वन्द्वी आकर घेर लेते हैं। और इसके अलावा, हम पाठकों को यह भी याद दिला दें कि श्रम जितना सहज-साध्य है, उसे सीखना जितना सरल है, उसमें निपुणता प्राप्त करने के लिए जितना कम उत्पादन-व्यय आवश्यक है, उतनी ही मज़दूरी में भी कमी होती है, क्योंकि अन्य माल के दाम की तरह मज़दूरी भी उसके उत्पादन-व्यय द्वारा ही निर्धारित होती है।

इसलिए जैसे-जैसे श्रम अधिकाधिक असन्तोषप्रद और अरुचिकर बनता जाता है, वैसे-वैसे होड़ बढ़ती जाती है और मज़दूरी कम होती जाती है। मज़दूर पहले से ज़्यादा काम करके अपनी मज़दूरी बरक़रार रखने की कोशिश करता है; इसके लिए चाहे वह ज़्यादा घण्टे काम करे या एक घण्टे में अधिक माल तैयार करे। अभाव द्वारा प्रेरित होकर वह श्रम-विभाजन के बुरे परिणामों को और भी बढ़ा देता है। नतीजा यह होता है कि **वह जितना ज़्यादा काम करता है, उतनी ही कम मज़दूरी पाता है।** और यह सिर्फ़ इसलिए कि वह जितना ज़्यादा काम करता है, उतना ही अधिक अपने साथी मज़दूरों के साथ होड़ करता है और इसलिए वह उन सब को प्रतिद्वन्द्वी बना लेता है, जो उतनी ही बुरी शर्तों पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जितनी बुरी शर्तों पर वह ख़ुद काम करने के लिए तैयार हो गया है। और

इसलिए, अन्ततोगत्वा, मज़दूर **ख़ुद अपना, मज़दूर वर्ग के एक सदस्य के रूप में ख़ुद अपना प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है।**

मशीनें कुशल की जगह अकुशल मज़दूरों को, मर्दों की जगह औरतों को और वयस्कों की जगह बच्चों को लाकर और भी बड़े पैमाने पर इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती हैं। जहाँ कहीं मशीनों का प्रयोग शुरू होता है, वहाँ वे हाथ से काम करनेवाले मज़दूरों के पूरे के पूरे समुदायों को बेकार करके, और जहाँ मशीनों में विकास या सुधार होता है और पुरानी की जगह नयी, अधिक उत्पादक मशीनें लगायी जाती हैं, वहाँ वे मज़दूरों की अपेक्षाकृत छोटी टोलियों को बेकार करके इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती हैं। ऊपर हमने पूँजीपतियों के बीच आपस में चलनेवाले औद्योगिक युद्ध का जल्दी-जल्दी में एक चित्र उपस्थित किया है। **इस युद्ध की विशेषता यह है कि इसकी लड़ाइयाँ उतनी मज़दूरों की फ़ौज भर्ती करके नहीं, जितनी उन्हें बर्ख़ास्त करके जीती जाती हैं। इन फ़ौजों के सेनापति, अर्थात पूँजीपति, इस बात में एक दूसरे से होड़ करते हैं कि उद्योग के सबसे ज़्यादा सैनिकों को कौन बर्ख़ास्त कर सकता है।**

यह सच है कि अर्थशास्त्री हमें यह बताते हैं कि जो मज़दूर मशीनों की वजह से फ़ालतू हो जाते हैं उन्हें उद्योग-धन्धों की **नयी** शाखाओं में काम मिल जाता है।

वे सीधे-सीधे यह कहने की हिम्मत नहीं करते कि जो मज़दूर निकाले जाते हैं उन्हीं को श्रम की नयी शाखाओं में काम मिलता है। वास्तविक इस झूठ का प्रबल रूप से खण्डन करती है। असल में, वे केवल यह कहते हैं कि **मज़दूर वर्ग के दूसरे संघटक** भागों के लिए नौकरी के नये रास्ते खुल जायेंगे मसलन मज़दूरों की नौजवान पीढ़ी के एक हिस्से के लिए, जो उद्योग की उस शाखा में प्रवेश करने के लिए तैयार खड़ा था, जो अब चौपट हो गयी है। अभागे मज़दूरों के लिए नि:सन्देह यह एक बहुत बड़ी दिलासा है। धर्मपरायण पूँजीपतियों को दोहन के लिए रक्त और मांस की कमी कभी न होगी और जो बीत गयी है वे उसे भूल जायेंगे। यह वह दिलासा है, जो पूँजीपति अपने को देता है, न कि मज़दूरों को। यदि मशीनों की वजह से उजरती मज़दूरों का पूरा वर्ग ही मिट जाये, तो पूँजी के लिए यह कितनी भयानक बात होगी उजरती श्रम न हो तो पूँजी पूँजी न रहेगी!

परन्तु मान लीजिये कि जिन लोगों की रोज़ी मशीनों ने सीधे-सीधे छीन ली है उन्हें, और नयी पीढ़ी के मज़दूरों के उस हिस्से को, जो इन नौकरियों पर पहले से आँख लगाये था, **नया धन्धा मिल जाता है,** तो क्या कोई यह विश्वास कर सकता है कि इस नये काम के लिए भी मज़दूरों को उतनी ही ऊँची मज़दूरी मिलेगी, जितनी उनको पुराने काम के लिए मिलती थी, जो उनके हाथ से अब जाता रहा है? यदि ऐसा होने लगे, तो **अर्थशास्त्र के सारे नियम झूठे पड़ जायें**। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार आधुनिक उद्योग सदा अधिक जटिल तथा उच्चतर कार्य को निम्नतर

तथा अधिक सहज-साध्य कार्य से बदल देता है।

तब फिर मशीनों के कारण उद्योग की एक शाखा से निकाला गया मज़दूरों का एक बड़ा दल उद्योग की दूसरी शाखा में कैसे खप सकता है, जब तक कि यह दूसरी शाखा **निम्नतर न हो और उसमें मज़दूरी कम न हो?**

कहा जाता है कि खुद मशीन बनाने के उद्योग में जो मज़दूर काम करते हैं, वे इस नियम के अपवाद हैं। कहा जाता है कि उद्योग में जब मशीनों की माँग और उनका इस्तेमाल बढ़ता है, तब लाज़िमी तौर पर मशीनों की संख्या में और फलतः मशीनों के उत्पादन में बढ़ती होती है और फलतः मशीन बनाने के उद्योग में अधिक मज़दूरों को नौकर रखा जाता है। और यह भी दावा किया जाता है कि उद्योग की इस शाखा में काम करनेवाले मज़दूर निपुण और यहाँ तक कि पढ़े-लिखे होते हैं।

वैसे तो पहले भी यह दावा केवल आधा सच था, लेकिन 1840 के बाद से तो इसमें सच्चाई का लेश भी नहीं रह गया है, क्योंकि तब से मशीन बनाने के उद्योग में ठीक उसी प्रकार अधिकाधिक नयी और विभिन्न प्रकार का काम करनेवाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है, जिस प्रकार सूत तैयार करने के उद्योग में होता है। और मशीन बनाने के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूर अत्यन्त पेचीदा मशीनों के सामने स्वयं गैर-पेचीदा मशीनों की ही भूमिका अदा कर सकते हैं।

लेकिन मशीन के कारण जो आदमी नौकरी से निकाल दिया गया है, उसकी जगह पर कारख़ाना सम्भवतः **तीन** बच्चों और **एक** औरत को नौकर रख लेता है! क्या उस मज़दूर की मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे तीन बच्चों और एक औरत का भरण-पोषण हो सके? क्या न्यूनतम मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे वंश की रक्षा और वृद्धि हो सके? तब फिर पूँजीपतियों के प्रिय फ़िक़रों से क्या सिद्ध होता है? इससे अधिक और कुछ नहीं कि **एक** मज़दूर परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए अब पहले से **चौगुने** मज़दूरों को अपना जीवन खपाना होगा।

पूरी बात को एक बार फिर संक्षेप में कह दें : **उत्पादक पूँजी जितनी ज़्यादा बढ़ती है, उतना ही श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग बढ़ता जाता है। श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग जितना अधिक बढ़ता है, उतनी ही मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ बढ़ती और उनकी मज़दूरी घटती है।**

इसके अलावा, मज़दूर वर्ग में **समाज के अधिक ऊँचे स्तरों** से भी बहुत-से रंगरूट भर्ती हो जाते हैं। छोटे-छोटे उद्योगपतियों और छोटे किरायाजीवियों की एक बड़ी संख्या को मज़दूरों की पाँतों में धकेल दिया जाता है और उनके सामने इसके सिवा और कोई चारा नहीं रहता है कि मज़दूरों के साथ वे भी आग्रह के साथ अपना हाथ फैलायें। इस प्रकार काम की याचना करनेवाले इन बढ़े हुए हाथों का जमघट दिन-ब-दिन घना होता जाता है, जबकि ये हाथ निरन्तर दुबले होते जाते हैं।

यह बात स्वत: सिद्ध है कि जिस होड़ में कामयाब होने की पहली शर्त यह है कि अधिकाधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाये, अर्थात उद्योगपति छोटा न हो, बल्कि बड़ा हो, उस होड़ में छोटा उद्योगपति मैदान में नहीं ठहर सकता।

पूँजियों की संख्या और आकार में जितनी बढ़ती होती है उतनी ही सूद की दर कम होती जाती है; अत: अब छोटा किरायाजीवी अपने सूद पर ज़िन्दा नहीं रह सकता और उसे उद्योग के क्षेत्र में कूदना पड़ता है और इस प्रकार वह छोटे उद्योगपतियों और अन्ततोगत्वा सर्वहारा वर्ग के उम्मीदवारों की संख्या बढ़ाता है निश्चय ही इन सब बातों को और समझाने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तिम बात यह है कि चूँकि पूँजीपतियों को, ऊपर बतायी हुई क्रिया के कारण, पहले से विद्यमान उत्पादन के विराट साधनों का अधिकाधिक बड़े पैमाने पर प्रयोग करने के लिए और इसके लिए ऋण के सभी साधनों को गतिशील करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, इसलिए उन औद्योगिक भूचालों की संख्या भी तदनुरूप बढ़ती जाती है, जिनमें वाणिज्य-जगत के लिए अपने को क़ायम रखने के लिए इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता कि सम्पदा के एक भाग की, उत्पादन के एक भाग की और यहाँ तक कि उत्पादक शक्तियों के एक भाग की भी वह पाताल लोक के देवताओं को सन्तुष्ट करने के वास्ते आहुति दे दे। साराँश यह कि **संकट** बढ़ते जाते हैं। वे पहले से अधिक जल्दी-जल्दी आने लगते हैं और उनकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है, और किसी कारण नहीं तो इस कारण कि जैसे-जैसे उत्पादन का परिमाण और ग्लत: नये और अधिकाधिक बड़े बाज़ारों की आवश्यकता बढ़ती है, वैसे-वैसे विश्व-बाज़ार अधिकाधिक सिकुड़ता जाता है और शोषण करने के लिए उपलब्ध बाज़ारों की संख्या अधिकाधिक घटती जाती है, क्योंकि पहले जितने भी संकट आ चुके हैं उनमें से प्रत्येक एक न एक ऐसे बाज़ार को विश्व-व्यापार के अधीन बना चुका है, जो उस वक़्त तक अछूता था या जिसका शोषण केवल सतही ढंग से हुआ था। परन्तु पूँजी श्रम पर केवल **जीती ही नहीं है।** वह मरती है तो बर्बर और अभिजातीय महाप्रभु की तरह अपने ग़ुलामों की लाशों को, संकटों में मर-मिटनेवाले मज़दूरों की लाशों के अम्बार को अपने साथ क़ब्र में लेती जाती है। इस प्रकार, हम देखते हैं : **यदि पूँजी तेज़ी से बढ़ती है, तो मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ उससे कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है, अर्थात मज़दूर वर्ग की रोज़ी के साधन, उसके जीवन-निर्वाह के साधन अपेक्षाकृत उतने ही कम हो जाते हैं; मगर फिर भी यह बात सच है कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल अवस्था यही है कि पूँजी की तेज़ी से बढ़ती हो।**

अंग्रेज़ी से अनूदित।

• • •